International Journal of Scientific Research in Science and Technology
© 2018 IJSRST | Volume 4 | Issue 7 | Print ISSN: 2395-6011 | Online ISSN: 2395-602X

विद्यापति की रचनाओं में मुद्रा, माप–तौल और कर से संबद्ध साक्ष्य

डॉ0 सुनीता प्रसाद
एम.ए., पीएच.डी. (इतिहास)
बी.आर.ए.बी.यू. मुजफ्फरपुर (बिहार)

प्राचीन काल से क्रय–विक्रय की वस्तुएँ निश्चित माप के अनुसार तौली जाती थीं और तत्पश्चात उसके निर्धारित मूल्य ग्रहण किये जाते थे। वैदिक युग में सुनिश्चित आधार पर तौल की व्यवस्था थी। ऋगवेद से विदित होता है कि वस्तुओं का भाव–ताव करने के बाद सौदा पक्का किया जाता था उनका मूल्य चुकाया जाता था।[1] उत्तरवैदिक काल में भी वस्तुओं की सुनिश्चित माप और तौल होती थी। संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों से इस पर प्रकाश पड़ता है। अष्ठाप्रूड (संभवतः अष्ठाप्रूष) 8 बुंदकियों से चिन्हित रहता था।[2] सौ रत्ती की तौल को 'शतमान' कहा जाता था।[3] तुला शब्द का भी व्यवहार उस युग में हो चुका था।[4]

पाणिनि में माप और तौल का विस्तार से वर्णन किया है। उसने परिमाण, तुला (तराजू), माष (एक सिक्के के बराबर), निष्पाव (स्वर्ण आदि तौलने का सूक्ष्म बटखरा) है। पाणिनि के काल तक कार्षापण, निष्क, पण, पाद, माषा, शाण आदि अनेक सिक्के प्रचलित हो चुके थे[5] जो विभिन्न वस्तुओं के मूलरूप के रूप में प्रदान किये जाते थे।

समाज में वस्तु की सही तौल आवश्यक मानी गई थी, जिसकी व्यवस्था राजा करता था।[6] कूल–तुला का प्रयोग करके छल करनेवाला व्यक्ति श्राद्ध में बुलाने योग्य नहीं माना जाता था।[7] महात्मा बुद्ध के अनुसार यदि कोई कम तौल से धोखा देकर धन अर्जित करता था तो वह मिथ्या आजीव के समान था।[8] तुला से ही वस्तुओं की सही तौल हो पाती थी। बौद्ध–युग में वस्तुओं की तौल के लिए तुलाधर भी हुआ करते थे।[9] उस युग में निष्क, सुवण्ण, हिरण्य, धरण, कहापण पण, आदि अनेक सिक्के एक निश्चित माप के मूल्य के रूप में प्रचलित थे। उस युग में आधे, चौथाई आदि मूल्य के भी सिक्के चलते थे।

कौटिल्य ने तौल और माप की सविस्तार चर्चा की है। उसके अनुसार तौल का माप लोहे की बनती थी। शंख जैसी वस्तु के भी बटखरे बनते थे जिनपर पानी या लेप को कोई असर नहीं होता था। प्रथम श्रेणी के काँटे का आयाम छह अंगूल होता था और द्वितीय श्रेणी के काँटे का आठ अंगुला सभी काँटों में दोनों ओर तुलनेवाला सामान और बाट एक साथ रखने के लिए शिक्या जैसे दो पलड़े बने रहते थे।[10] अर्थशास्त्र में सोलह प्रकार के तराजुओं का उल्लेख हुआ है, जो भिन्न–भिन्न वस्तुओं को तौलने में पृथक्–पृथक् रूप से प्रयुक्त होते थे। पण, अर्धपण, पादिक (चौथाई

पण), मापक, अर्धमाषक, काकिणी तथा अर्धकाकिणी जैसे सिक्कों का सन्दर्भ अर्थशास्त्र में मिलता है।

मनु ने लिखा है, ''तुलामान, प्रतीमान और तराजू को राजा अच्छी तरह जाँचकर परीक्षा करे तथा प्रति छह मास पर उनकी जाँच कराता रहे[11]।'' याज्ञवल्क्य ने भी तौल और माप पर राज्य का सजग दृष्टि रखने की सलाह दी है[12]। स्मृतियों में अनेक प्रकार की मापों का उल्लेख हुआ है जिनमें सर्षपा, मध्ययव, कृष्णल, मासा, सुवर्ण आदि प्रमुख हैं। गुप्त–युग में अनेक प्रकार की मुद्राओं का प्रचलन था। ये मुद्राएँ स्वर्ण, रजत और ताम्र धातुओं की थी। वस्तुओं के क्रय–विक्रय में उन मुद्राओं का पूर्णतः उपयोग होता था। फाह्येन के विवरण से पता चलता है कि उस युग में साधारण वस्तुएँ कौड़ियों के माध्यम से खरीदी जा सकती थीं।

वस्तुओं का उचित मूल्य लेना श्रेयस्कर माना जाता था। कात्यायन का कथन है कि अनुचित रूप से बेचा गया माल सौ साल में भी लौटाया जा सकता था[13]। अनाधिकृत रूप से बेची गई वस्तु लौटाई जा सकती थी। याज्ञवल्क्य का भी यह विचार है अगर विक्रीत वस्तु का अवैध होना प्रमाणित हो जाय तो वह विक्रय करनेवाले को लौटा दी जाय[14]।

श्वानच्वांग ने हर्ष के समय के विनिमय के साधनों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार सोने या चाँदी के सिक्के, कौड़ियों आदि विनिमय के साधन थे[15]। नेपाल के विनिमय का माध्यम ताँबे की मुद्राएँ थीं। कंगोद राज्य में कौड़ियों और मोतियों से वस्तुएँ क्रय की जाती थी। पूर्वमध्ययुग में सिक्कों के लिए द्रम्म शब्द का प्रयोग किया जाता था। इन सिक्को के प्रकार इनके राजवंशों के नाम पर स्थिर होते थे।

हेमचन्द्र के अनुसार वनज और संख्या को निश्चित करने का नाम 'मान' था, जो दो प्रकार का होता था, 'संख्या और 'परिमाण[16]। कभी–कभी वस्तुओं की अदला–बदली करके भी दूसरी वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती थीं। हेमचन्द्र के समय जौ की अपेक्षा मट्ठे का मूल्य आधा था। एक सेर जौ देने पर दो सेर मट्ठा प्राप्त होता था। यही मट्ठे के परिवर्तन का आधार–मूल्य था[17]। उस युग में प्रायः तीन प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित थी–पण्णिक, मयंक और सामरका पण्णिक 'पण' को अभिव्यक्त करता है। उस युग में सोने, चाँदी, ताँबे आदि विभिन्न धातुओं की मुद्राएँ विनिमय में प्रयुक्त की जाती थी।

राज्य की ओर से व्यापारियों की वस्तु पर लगनेवाला कर 'शुल्क' कहा जाता था। पाणिनि के अनुसार जितना 'शुल्क' माल पर पड़ता था। उसके आधार पर व्यवहार में माल का नाम पड़ जाता था, जैसे 'पंचक' से तात्पर्य उस माल से था जिसपर पाँच कार्षापण चुंगी लगी हो। इसी प्रकार 'सप्तक' और 'सहस्त्रक' आदि। चुंगीघर अथवा चुंगी के कार्यालय को 'शुल्कशाला' कहा जाता था तथा वहाँ से प्राप्त होनेवाली आय को शौलकशालिक। जिस वस्तु पर आधे कार्षापण अथवा अठन्नी होता

था[18]। अगर देखा जाय तो 'शुल्क' से ही दक्षिणी भाषाओं में 'सुंक' हुआ, जिससे बिगड़कर 'चुंगी के रूप में वसूल की जाती थी कि शुल्काध्यक्ष एक विशाल शुल्कशाला बनवाये। उसका मुख पूर्व या उत्तर की ओर हो और द्वार के पास ही शुल्क वसुलनेवाले चार या पाँच कर्मचारी अपने सामान के साथ आए हुए व्यपारियों के सम्बन्ध में समस्त विवरण लिपिबद्ध करें– व्यापारी कौन है, वह कहाँ से आया है, वह बिक्री का कितना सामान लाया है, उसने कहाँ और किस अन्तपाल ने पण्य–विशेष की परिचय–विषयक मुद्रा अथवा विज्ञप्तिपत्र प्राप्त किया है और कौन–कौन माल मुद्रांकित होकर आया है। जो व्यापारी मुद्राविहीन सामान लाए हों उन्हें अन्तपल को देय 'वर्तनी' नामक कर दूना दण्ड दिया जाय[19]।

कौटिल्य ने कुछ ऐसी वस्तुओं का उल्लेख किया है जिन पर राज्य की और से शुल्क नहीं लिया जाता था, उदाहरण के लिए ऐसी वस्तुओं का विवरण इस प्रकार है : जो वस्तुएँ विवाह–कार्य के उपयोग के लिए होती थी, जो सामान नवपरिणीता वधू पिता के घर से पाकर पति के घर ले जा रही होती थी, अन्न–क्षेत्र के लिए जो सामान उपहार–स्वरूप मिल रहता था तथा यज्ञ के लिए दही, दूध आदि जैसी वस्तुएँ ले जाई गयी होती थी[20]। मनु के अनुसार क्रय–विक्रय, मार्ग, भोजन, चोरों से रक्षा का व्यय और लाभ को देखकर व्यापारी से कर लिया जाता था। यह कर राजा व्यापारियों के समुचित लाभ और फल को दृष्टि में रखकर लगाता था[21]। यह शुल्क वस्तु का 1/6, 1/10, 1/15, 1/20 अथवा 1/25 हो सकता था। पंतजलि के अनुसार राज्य द्वारा व्यापारिक वस्तुओं पर जो कर लगाया जाता था, वह 'शुल्क' कहा जाता था[22]। इस कार्य के लिए 'शुल्कशालाएँ' होती थी, जो सम्भवतः आज की तरह विभिन्न स्थानों पर कार्यालय के रूप में रहा करती थीं तथा उस मार्ग से आने–जानेवाले व्यापारियों को रोककर उनके सामानों पर शुल्क लगाया करती थीं। शुल्क के अधिकारी को 'शौल्कशालिक' कहा जाता था। शुल्क प्रदान करने के पश्चात् ही किसी वस्तु को अर्हता प्राप्त होती थी, जिसे 'अवक्रय' की संज्ञा दी गई थी[23]। यह अवक्रय राज्य की आय का प्रधान था। वात्स्यायन ने 'अष्टवर्ग' के अन्तर्गत पथकर (जल और स्थल दोनों मार्गों के) को भी स्वीकार किया[24]। मिताक्षरा में स्थल और जल दोनों मार्गो से जाने वाले सामानों पर दो प्रकार के शुल्क लगाने की बात कही गई[25]। धर्मसूत्रों के अनुसार शुल्क प्रायः विक्रय की जानेवाली वस्तु का 1/16, 1/20 या 1/32 भाग हो सकता था[26]। जलकर के अभिलेखीय प्रमाण भी मिलते हैं। गहड़वाल शासक गोविन्दचन्द्र के एक अभिलेख से विदित होता है कि उस समय जलकर लगता था। सोमदेव ने लिखा है कि पैण्ठास्थान (बड़ी–बड़ी मंडियों) में विभिन्न वस्तुएँ बेची जाती थी, जिनमें अनेक देशों के व्यापारी भी सम्मिलित होते थे[27]। राज्य की ओर से समुचित शुल्क भी लिया जाता था[28]। हेमचन्द्र के मतानुसार माल पर शुल्क लिया जाता था, जो राज्य में स्थापित विभिन्न शुल्कशालाओं से प्राप्त होता था। शुल्क चुंगी के रूप में प्राप्त होनेवाली यह आय 'शैलशालिक' के नाम से जानी जाती थी[29]। शुल्कशाला में

नियुक्त अधिकारी को 'शौल्कशालिक' कहा जाता था[30]। हेमचन्द्र का अभिमत है कि वणिकों की रक्षा करने के कारण राज्य को शुल्क प्राप्त होता था[31]। गहड़वाल शासकों के काल में लगनेवाला 'प्रवणि' कर व्यापारियों से उनके माल पर लिया जानेवाला एक प्रकार शुल्क ही था। घोषाल ने 'प्रवणि' को व्यापारी ही मान है[32]। मथनदेव के रजोर–अभिलेख में 'वणिक्' के लिए 'प्रवणि' को व्यापारी ही माना है[33]। वैसे, शुल्क पथकर के रूप में ही वणिकों से ग्रहण किया जाता था।

विद्यापतिकालीन मिथिला में राजाओं एवं महाराजाओं के कोषाधिकारी को ''महाभाण्डारिक'' कहा जाता था और उसके अधीनस्थ था ''मुद्राहस्तक'' जिसके पास मुहर रहती थीं[34]। उस युग में मिथिला में सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुओं की मुद्राएँ प्रचलित थीं। तत्कालीन सिक्कों के अनेक रूप थे, जैसे टंक, पुराण, कपर्दक, कौड़ी, काकिनी आदि। इन सभी मुद्रओं का उल्लेख विद्यापति–साहित्य में पाया जाता है। इन सिक्कों के मान का परिचय अन्य समकालीन निबन्धों से मिल जाता है।

टंक सोना एवं चाँदी का बनता था। बृहत्हिन्दीकोश से ज्ञात होता है कि एक टंक का मान चार मासे के बराबर होता था[35]। यह स्पष्ट नहीं है कि यह चाँदी के टंक का है या सोने के टंक का। विद्यापति ने लिखनावली में टंक का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है। उस समय शूद्रो की खरीद–बिक्री की जाती थी। लिखनावली के एक पत्र से ज्ञात होता है कि एक मालिक ने अपने दास (16 वर्ष) तथा पुत्री (8 वर्ष) को क्रमशः छः, चार, आठ और तीन चाँदी टंकों के मूल्य पर सदा के लिये बेच दिया था[36]। इससे ज्ञात होता है कि बुढ़ शूद्रो की किमत नौजवाने से कम थी। एक दूसरे पत्र से ज्ञात होता है कि जो शूद्र स्वयं जाकर बिकता था, उसकी किमत और भी कम होती थी। इसके अतिरिक्त उके मुल्य का निर्धारण पंचों के द्वारा होता है। उसी पत्र से यह भी ज्ञात होता है कि एक शूद्र ने अपने–आप को मात्र चाँदी के दो टंके मूल्य पर बेच दिया था।[37] एक दूसरे पत्र से ज्ञात होता है कि एक मालिक ने अपने 25 वर्षीय शूद्र को मात्र पाँच चाँदी टंकों के मूल्य पर बन्धक रखा था[38]।

तद्युगीन मिथिला के लोग ''मोलव्यवस्था'' पर रोप्य टंक ऋण के रूप में भी लेते थे। वे एक रोप्य टंक के लिए दस ''खारी'' धान देते थे। लिखनावनी के पत्र सं0 72 से ज्ञात होता है कि एक व्यक्ति ने दस रोप्य टंक कर्ज लेकर 100 ''खारी'' धान देने की प्रतिज्ञा की थी। इसके अतिरिक्त एक कर्जदार तो दो रोप्य टंक कर्ज लेकर उसके बदले धान्योत्पत्ति के समय एक रोप्य टंक के लिए चार ''खारी'' धान्य के साथ ही दोनों टंको को वापस कर देने की भी प्रतिज्ञा करता है[39]। तत्कालीन कृषक अपनी प्रतिकूल परिस्थिति में, 3 टंक में ही अपनी सबसे उत्तम गाय एवं बैल को बंधक रख देते थे[40]। एक खदुका अन्न लेनेवाला एक टंक के लिये प्रत्येक दिन एक पण ब्याज देता था[41]। एक अन्य पत्र से ज्ञात होता है कि लोग भाड़े पर नाव लेकर उतराई का काम करते थे। उस समय एक नाव के लिये प्रत्येक महीने में दो टंक

भाड़ा देना पड़ता था। कीर्त्तिलता से ज्ञात होता है कि लोग भाड़े पर नाव लेकर उतराई का काम करते थे। उस समय एक नाव के लिये प्रत्येक महीने में दो टंक भाड़ा देना पड़ता था। कीर्त्तिलता[42] से ज्ञात होता है कि जोनपुर में धान का मूल्य बहुत था, कारण वहाँ धान के लिये सोने का टंक देना पड़ता था[43]। इससे ज्ञात होता है कि सोने के टंको का प्रयोग तत्कालीन दैनिक व्यवहार में भी प्रचलित था।

ताँबे के सिक्के को पण कहा जाता था[44]। तिब्बती यात्री धर्मस्वामीन के अनुसार पण का मान 80 कौड़ियाँ थीं[45]। लेकिन बृहत्हिन्दीकोश के अनुसार एक पण का मान 11 वा 20 मासा था और संस्कृत–हिन्दीकोशसे ज्ञात होता है कि 8 या 80 समय–समय पर बदलता रहता था। लेकिन विद्यापति के युग में पण का मान 80 कौड़ियाँ ही थीं।[46] कारण धर्मस्वामीन मिथिला के राजा रामसिंहदेव के समय में यहां आये थे। विद्यापति के युग में दस तोला स्वर्ण बन्धक रखनेवाले को प्रत्येक महीने में चार पण ब्याज देना पड़ता था[47]। कन्या– विवाह के लिए दिए जाने वाले कर्ज का सूद साधारण सूद की दर से अधिक था। कारण, एक आदमी ने कन्या विवाह के लिये 10 चाँदी के टंक प्रत्येक टंक पर 6 पण प्रति महीने सूद के हिसाब से कर्ज लिया था[48]। इसके अतिरिक्त एक आदमी ने एक दूसरे काम के लिये टंक कर्ज, प्रत्येक टंक पर एक पण सूद की दर से लिया था[49]। उसी युग में भरना रखा हुआ दास यदि कहीं भाग जाता था, तो भरना रखनेवाले को प्रत्येक दिन दो पण के हिसाब से मालिक को सूद देना पड़ता था[50]। विद्यापति के समसामयिक निबन्धकार वाचस्पति मिश्र की पुस्तक विवाद–चिन्तामणि से ज्ञात होता है कि 100 पुराण ऋण पर 8 पणों की बृद्धि की व्यवस्था थी[51]। इसके अतिरिक्त पाँच मूल्य से खरीदी हुई चीजों पर राज्य कर भी नहीं लगता था[52]।

बृहत्हिन्दीकोश से ज्ञात होता है कि अस्सी कौड़ियों के बराबर पुराण सिक्पण को पुराण कहा जाता था[53]। अमरकोष से ज्ञात होता है कि 16 पणों का एक पुराण होता था[54]। विद्यापति–साहित्य से हमें ज्ञात होता है कि एक आदमी 20 टंक कर्ज 4 महीने के लिये लेता है और वह प्रतिज्ञा करता है कि चार महीने में 5 पुराण प्रति माह के हिसाब से सूद सहित मूलधन भी लौटा देगा, लेकिन एक व्यापारी से एक आदमी ने 4 पुराण प्रति माह प्रति टंक के ब्याज पर लिया था। इससे ज्ञात होता है कि सूद की कोई निश्चित दर नहीं थी।

तत्कालीन मिथिला में मालिक अपने शूद्र के विवाह के लिये शूद्र–कन्या खरीदते थे। पत्र से ज्ञात होता है कि एक मालिक ने अपने शूद्र के विवाह के लिये एक शूद्री को चार पुराण में खरीदा था। इसके लिये बना हुआ दस्तावेज दृष्टव्य है[55] : ''सिद्धिः। परमभट्टारकेव्यादिराजल–मणसेनदे वीयनवकत्युत्तरदिशतलमवर्षरय भाद्रशुक्लचतुदर्दश्यां शुक्रवारान्वितां एवं मासपक्षतिथिक्रमेणभिलिखयमाने यत्रांके नापि संवत् 299 भद्रशुक्ल 14 शुक्ल समत्तप्रक्रियाविराणमानरजश्रीअमुकदे वपा दानां सम्भुज्यमानां तीर भुक्तो अमुकग्रामे उपाध्या श्रीअमुकः शूद्रीक्रयणाथ्र रवधनं प्रयुंजये।

धनग्राहहोंप्येतत्सकाशन्नामतः कायस्थ प्रीअमुकः कैवर्त्तशूद्र श्री अमुकस्य सुतां अमुकीनाम्नी कन्यां गौरीवरटिका पुराणचतुष्टयमादाय कैवर्त्तयशूदशी सुतश्रीअमुकेषु विवाहविधिना विक्रीतवान्। यत्र विक्रीतप्राणिशूद्री1 विक्रयांक4। अत्रार्थे साक्षिणः अमुकामुकाः कृता भूताश्चे ति लिखितमुभयानुमत्या श्री अमुकेन लिखापनसमुमभयदेवं1।। यत्र केवर्त्तगोरा ओडपु4 अमातादिपुं 54 इति11 एक खदुका अपने महाजन से प्रतिज्ञा करता है कि ''चूंकि मैंने आपसे दो पुराण ऋण लिया अतः बिना चुकाए मैं कहीं अन्यत्र नहीं जाऊँगा। यदि जाऊँगा तो अनिष्ट फल का भोजन बनूँगा।'' वह यह संकल्प कर शिवलिंग को छू कर इसे सत्यापित करता है।

मासा, अथवा पण के चौथाई भाग, को काकिनी कहा जाता है। लिखनावली से ज्ञात होता है कि यदि ''चतुबरिव्युढ़ि'' पर चार रौप्य टंक लिया जाए तो उस बन्धक सम्बन्धी नियम में विघटन होने पर बन्धक रखनेवाले को प्रत्येक दिन 6 काकिनी देना पड़ेगा। लिखनावली की ऋणपत्नी से ज्ञात होता है कि 100 पुराण कपर्दक का सूद एक वर्ष में 125 पुराण कपर्दक देना पड़ता था। मुद्रा का सबसे कम कीमती रूप कौड़ी था। विद्यापति के पद में कहा गया है :

''कउरि पठओले पाव नहि घोर।''

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि विद्यापति का लोक ज्ञान अत्यन्त ही विस्तृत था।

मध्यकालीन मिथिला में रचित निबन्ध साहित्य में राजनीति इतिहास से सम्बन्धित तथ्यों का उल्लेख मिलता है। गणेश्वर के सुगति–सोपान से यह ज्ञात होता है कि मिथिला के राजा के एक मंत्री (सचिव) देवादित्य ने शत्रुओं के व्यूह–चक्र को ध्वस्त कर दिया और स्वयं गणेश्वर ने गौड़ के सुरत्राण[56] के विरूद्ध सफलतापूर्वक युद्ध किया। दानरत्नाकर इस बात का उल्लेख करता है कि चण्डेश्वर ने आसानी से देश, जो म्लेच्छों के सागर में डूब रहा था, का उद्धार किया।[57] म्लेच्छ एवं गौड़ शासकों की पराजय के सम्बन्ध में उपर्युक्त तथ्य निश्चित रूप से बंगाल के सुल्तानों पर पर विजय प्राप्त किया जाने का संकेत देते हैं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि किसी भी निबन्धकार ने मुसलमान शासकों के नामों का उल्लेख नहीं किया है। आधुनिक इतिहासकारों का अनुमान है कि बंगाल के वे मुसलमान शासक बलबन के बाद के मामलूक सुल्तान थे तथा उन पर विजय प्राप्ति की तिथि हि0 सं0 692 (=1293) से कुछ वर्ष पूर्व निर्धारित की जा सकती है। महेश्वर अभिलेख की यही तिथि है।[58] दण्डविवेक[59] के लेखक वर्धमान ने भी बंगाल के सुल्तानों का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया है। लेकिन यह भी आश्चर्य की बात है कि वर्धमान ने गौड़ के सुल्तान के हिन्दू प्रतिनिधि के नाम की चर्चा है। उक्त ग्रन्थ का निम्नलिखित उद्धरण महत्वपूर्ण है, ''अत्यन्त ही शक्तिशाली उस व्यक्ति (अर्थात राजा भैरव) ने उसकी सारी सेना से वंचित करके तथा उसे अपनी सेना का साधारण सैनिक बनाकर उससे सभी आदेशों का पालन करवाया और केदारराय, जो गौड़ के बादशाह का प्रतिरूप था, उसके साथ

ठीक उसी तरह का व्यवहार किया जैसे कोई अपनी पत्नी के साथ करता है''। सम्भवतः वह हुसैन सिकन्दर शाह था, जिसकी अंतिम तिथि 1389 ई0 मानी जाती हैं, अथवा वह सिकन्दर साह का पुत्र गयासुद्दीन आजमशाह भी हो सकता है जिसने 1339 से 1410 ई0 के बीच कभी शासन किया था। काशी प्रसाद जायसवाल ने विद्वानों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया था कि चण्डेश्वर के दानरत्नाकर, विवादरत्नाकर और कृत्यचिन्तामणि में इस बात का उल्लेख हुआ है कि चण्डेश्वर ने शक संवत् 1236 (1314 ई0) में नेपाल के विरूद्ध सबल अभियान किया और बागमती नदी के किनारे तुलादान किया[60], यानी अपने तौल के बराबर कीमती धातु को दान में बांटा। कृत्याचिन्तामणि श्लोक के अनुसार चण्डेश्वर ने अपने पराक्रम से नेपाल के पहाड़ी इलाकों को जीत लिया और वह प्रथम ब्राह्मण था जिसने नेपाल के सोमनाथ को स्पर्श एवं अभिपूजित किया (नेपाल गिरि दुर्ग में भुजवाल दुन्मूल्य)। चण्डेश्वर की और एक पुस्तक कृत्यचिन्तामणि के कुछ उद्धारणों के अनुसार हरिसिंहदेव ने नेपाल पर दूसरी बार भी विजय प्राप्त की। सम्भवतः नेपाल पर यह दूसरी चढ़ाई थी, जो 1324 ई0 के बाद हुई क्योंकि इसी साल या 1325 में दिल्ली के सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक ने हरिसिंहदेव को परास्त किया था। इतना ही नहीं, कृत्यचित्तामणि में इस बात का भी उल्लेख हुआ है कि हरिसिंह ने रंगा (बंगड़), कामरूप, चिनों, किरातों, नटों[61] आदि को परास्त करने का श्रेय प्राप्त किया। अब तक अप्रकाशित कृत्यचिन्तामणि को छोड़कर कोई भी दूसरा, मूल ग्रन्थ अथवा अभिलेख उपलब्ध नहीं है जो नेपाल के अलावे हरिसिंह द्वारा वंग, कामरूप, किरात आदि क्षेत्रों की विजय की चर्चा करता हो। साथ ही मिथिला की पंजियों अथवा नेपाल के इतिवृत्तों में हरिसिंह द्वारा नेपाल पर दो बार विजय अभियानों का उल्लेख नहीं मिलता है। निबंध साहित्य से मिथिला के राजाओं के वंशानुगत राज्या रोहण की कुछ जानकारी मिलती है। गणपति ने अपनी गंगाभक्तितरंगिणी में इस बात की चर्चा की है कि उनके दादा को मिथिला के राजा नान्य ने संरक्षण दिया था।[62] यहाँ इस बात की चर्चा अपेक्षित नहीं है कि यह नान्य मिथिला के कर्णाट वंश के संस्थापक अथवा प्रथम राजा से भिन्न था। गणेश्वर एवं उसके भतीजे चण्डेश्वर हमें इस बात की जानकारी देते हैं कि हरिसिंहदेव कर्णाटवंश का अंतिम स्वतंत्र शासक था। के0 पी0 जायसवाल का कहना है कि यह सत्य प्रतीत होता है कि रामदत्त के कर्णाट वंश के राजा नृसिंह के दरबार में महामहत्तक होने के बावजूद उपर्युक्त नृसिंह प्रथम नहीं बल्कि नृसिंह द्वितीय था जो हरिसिंह की पराजय के उपरांत दिल्ली के सुल्तान द्वारा स्थानीय शासक अपनाया गया।[63]

इतिहासकारों के बीच ओइनवार अथवा सुगौना के इतिहास के संबंध में काफी मदभेद है। कोई भी निबन्धकार उन परिस्थितियों का उल्लेख प्रस्तुत नहीं करता है जिनके चलते ओइनवार राजवंश की स्थापना हुई। ब्राह्मण पुरोहित कामेश्वर का राजा के रूप में चर्चा कोई भी निबंधकार नहीं करता है। विद्यापति कामेश्वर को ''राए'' या राजा के रूप में अपनी पुस्तक कीर्तिलता में उल्लेख करते हैं, परन्तु उनके

किसी भी निबंध में इसकी चर्चा राजा के रूप में नहीं मिलती है। मिथिला में तमाम निबंधों में इस वंश के भवेश अथवा भवसिंह का नाम सबसे पहले वर्णित किया गया है। चण्डेश्वर ने अपनी पुस्तक राजनीतिरत्नाकर[64] में भवेश राजा के रूप में वर्णन किया है परन्तु भवेश के पूर्वजों के संबंध में वे मौन हैं। तथाकथित भवेश की चर्चा विद्यापति के विभागसागर, वाचस्पति के महादान निर्णय और मिसरू मिश्र के विवादचन्द्र[65] में मिलती है। विद्यापति अपनी पूर्वपुस्तक शैवसर्वस्वसार[66] एवं गंगावाक्यावलि, में भवसिंह का परिचय देते हैं। यह भवसिंह अवश्य ही भवेश है क्योंकि दोनों का पुत्र देवसिंह था। विद्यापति अपनी पूर्वपुस्तक शैवसर्वस्वसार में भवसिंह को ''भूपति'' और देवसिंह को मिथिला का ''नृप'' बतलाते हैं। लेकिन अपनी भू–परिक्रमा में देवसिंह और उसके पुत्र शिवसिंह को राजा के रूप में नहीं लिखा है और भी महत्वपूर्ण है कि विद्यापति देवसिंह और उसके पुत्र शिवसिंह को राजा के रूप में नहीं लिखा है और महत्वपूर्ण है कि विद्यापति देवसिंह और उसके पुत्र शिवसिंह दोनो को नैमिषारण्य का निवासी बताते हैं। विद्यापति ने देवसिंह के आदेशानुसार भू–परिक्रमा[67] की रचना की। एक और समस्या सामने आती है कि आखिर देवसिंह मिथिला में न रहकर नैमिषारण्य में क्यों रहने लगे? विमान विहारी मजूमदार बताते हैं कि राजनीतिक घटनाओं से बाध्य होकर देवसिंह को मिथिला के बाहर रहना पड़ा।[68] विद्यापति अपनी पुस्तक विभागसागर[69] में भवेश के पुत्र हरिसिंह की चर्चा करते हैं लेकिन इस बात का उल्लेख नहीं करते हैं लेकिन इस बात का उल्लेख नहीं करते हैं कि उसने कभी मिथिला पर शासन किया। देवसिंह के पुत्र नृपति शिवसिंह की चर्चा विद्यापति के ग्रन्थ शैवसर्वस्वसार[70] में आती है, जिसके अनुसार उपरोक्त राजा ने गौड़ एवं गज्जन देशों के राजाओं को परास्त कर हाथी, घोड़े, स्वर्ण इत्यादि प्राप्त किये। इन दो सुल्तानों के नाम को लेकर इतिहासकारों के बीच विवाद है। मजुमदार के अनुसार गौड़ का शासक शैफुद्दीन हमजा शाह (ल0 141–12) अथवा शिहादुद्दीन[71] वाजिद शाह (ल0 1413–17 ई0) था। परन्तु गज्जन देश का शासक की पहचान अब तक नहीं हो पाई है। स्पष्ट रूप से गज्जन एवं गर्जनी पर्यायवाची हैं किन्तु यह असम्भव लगता है कि शिवसिंह ने गजनी के शासक से युद्ध किया था। तब प्रश्न उठता है कि क्या विद्यापति द्वारा वर्णित उपर्युक्त युद्ध इब्राहिम शाह शर्की (1400–1400 ई0) के साथ हुए संघर्ष की ओर सकेत तो नहीं करता, जो सर्वप्रथम 1402 ई0 और पुनः 1414–15 ई0 तिरहुत आया था परन्तु यह तो माना जाता है कि इब्राहिम शाह शर्की ने राजा गणेश का दमन किया[72], न कि लगभग 1414–15 ई0 में मिथिला के किसी अन्य राजा ने उसका।

विद्यापति और वाचस्पति मिश्र में पद्मसिंह, विश्वास देवी, नरसिंह, धीरसिंह एवं भैरवेन्द्र की चर्चा अपने निबंधों में की है। शैवसर्वस्वसार के दो श्लोकों (छंदो) में पद्मसिंह, जो शिवसिंह के भाई थे, और पांच श्लोको में विश्वास देवी (पद्मसिंह की रानी) का उल्लेख हुआ है।[73] अपने पति की मृत्यु के बाद विश्वास देवी सिंहासनासद

हुई (पांचवा श्लोक) और उसने विद्यापति को आदेश दिया है कि शैवसर्वस्वसार तथा गंगावाकयावलि रचना करें। ऐसा आभास होता है कि रानी विश्वास देवी काफी विदुषी थी, क्योंकि विद्यापति ने गंगावाक्यावलि में लिखा है कि उपरोक्त ग्रन्थों की रचना रानी ने स्वयं की, जिसमें मैंने मात्र कुछ प्रामाणिक श्लोकों को जोड़ दिया है।[74] यह तथ्य और भी महत्पवूर्ण है कि वर्धमान, वाचस्पति और मिसरू ने पद्मसिंह को नरसिंह के एक पूर्ववर्ती शासक के रूप में उल्लेख किया है। इस संबंध में उसी प्रकार की त्रुटि विद्यापति की एक और रचना विभागसागर में भी परिलक्षित होती है। विभागसार दर्पनारायण के आदेश से लिखा गया था जिसका वास्तविक नाम नरसिंह था। विद्यापति की दानवाक्यावलि और भैरवसिंह की विष्णुपूजा कल्पलता[75] के द्वारा नरसिंह एवं दर्पनारायण की पहचान हो जाती है। ये दोनों ग्रन्थ आज तक अप्रकाशित हैं। विद्यापति ने दानवाक्यावलि की रचना नरसिंह दर्पनारायण की पत्नी धीरमती के आदेश पर की थी।[76] नरसिंह के बाद उसके दो पुत्र धीरसिंह और भैरवेन्द्र अथवा भैरवसिंह गद्दी पर बैठे। विद्यापति की दुर्गाभक्तितरंगिणी से इस बात की जानकारी मिलती है कि नरसिंह की जीवन काल में ही (श्लोक संख्या 3–6) उसके पुत्र धीरसिंह की शक्ति दिनोंदिन बढ़ती गयी तथा उसके दूसरे पुत्र भैरसिंह (नरसिंह के पुत्र), जिसने रूपनारायण की उपाधि धारण की, पन्चगौड़ के राजा अथवा गौड़ के पाँच राजाओं को परास्त कर दिया।[77] भैरवसिंह के आदेश से ही विद्यापति ने उपरोक्त निबंध की रचना की, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि मिथिला का शासक धीरसिंह ही था न कि भैरवसिंह। आगे चलकर भैरवेन्द्र मिथिला का राजा बना जैसा कि वाचस्पति के महादाननिर्णय से हमें ज्ञात होता है। इस ग्रन्थ में से नृपति कहा गया है। यहाँ स्मरणीय है कि वाचस्पति ने अपने ग्रन्थ दण्डविवेक में (श्लोक संख्या 5) भैरव को मिथिला का राजा बतलाता है। पुनः वाचस्पति ने अपनी दूसरी पुस्तक श्राद्धकल्प के अंत में जिसकी रचना रामभद्र के संरक्षण में हुई थी, लिखा है कि वह स्वयं रामचन्द्र रूपनारायण[78] के संरक्षण में था। फिर शुद्धाचारचिंतामणि की पुष्पिका में वाचस्पति ने अपने को महाराजाधिराज हरिनारायण का ''पारषद्'' (धर्मशास्त्र के गूढ़ स्थलों में राजा को सलाह देनेवाला) बतलाया है।[79] इस प्रकार विद्यापति एवं वाचस्पति ने दो भिन्न राजाओं के लिए अलग–अलग उपाधि का प्रयोग किया। महात्मानिर्णय में वाचस्पति ने भैरवेन्द्र को रूपनारायण कहा हैं।[80] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि भैरवेन्द्र या भैरवसिंह किसी समय रूपनारायण के नाम से विख्यात थे। विद्यापति की दुर्गाभक्तितरंगिणी, मिसरू मिश्र रचित विवादचन्द्र तथा वाचस्पति द्वारा लिखित श्राद्धचिन्तामणि से पुरूषोत्तम एवं चन्द्रसिंह नामक दो अन्य शासकों की जानकारी मिलती है। वाचस्पति ने श्राद्धचिन्तामणि की रचना राजाधिराज पुरूषोत्तम की माँ एवं भैरवेन्द्र की विधवा पत्नी रानी जया के आदेश से किया।[81] मिसरू मिश्र ने राजा चन्द्रसिंह को अपना संरक्षक बतलाया है और इसी संदर्भ में रानी लखिमा देवी की

चर्चा भी की है।[82] लेकिन उसने नरसिंह दर्पनारायण एवं चन्द्रसिंह, के बीच के संबंधों के बारे में कुछ नहीं कहा है।

निबंध लेखकों ने खंडवाल राजवंश के अनेक राजाओं के नामों की चर्चा की है। उदाहरण के लिए रनपाणि शर्मा को लिया जा सकता है। इन्होंने श्रेयमासादि विवके और मिथिलेशाहिमक नामक दो ग्रन्थों की रचना मिथिला के राजकुमार के संरक्षण में की।[83]

इस प्रकार निबंधों से पढ़कर ओइनवार राजवंश के बहुत से राजाओं के नामों की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि निबंधों और पंजियों की तुलना में विद्यापति के निबंध के अलावा अन्य रचनाओं में इस राजवंश के राजाओं के बारे में बहुत ज्यादा जानकारी मिलती है। पंजियों के साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे विभिन्न राजाओं के क्रमबद्ध रूप से उत्तराधिकार ग्रहण किए जाने के संबंध में एकमत नहीं है। दूसरी ओर यद्यपि कर्णाट राजवंश के अधीन कुछ छोटे मोटे स्वतंत्र शासकों एवं स्थानीय सरदारों के नामों की चर्चा करते हैं, लेकिन वे कर्णाट क्षत्रिय राजघराने के कोई चार राजाओं के बारे में चुप हैं। वे चार राजे थे : मल्लदेव, गंगदेव, नरसिंहदेव और रामसिंहदेव, जिन्होंने लगभग 1147 और 1185 के बीच शासन किया।

निबंधों और विशेषकर राजनीतिरत्नाकार में मिथिला के कर्णाट एवं ओइवार राजंश के राजाओं के शासन–काल की प्रशासनिक व्यवस्था का विस्तृत विवरण मिलता है। इन ग्रंथों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन मिथिला में शासन व्यवस्था बहुत कुछ प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पर ही आधारित नहीं थी, बल्कि कुछ अर्थों में इसे नया स्वरूप भी दिया गया। राजाओं और मंत्रियों की स्थिति तथा ग्राम शासन, राजस्व–व्यवस्था, कूटनीति, आदि मामलों में थोड़े बहुत परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं। निबंधों में वर्णित निम्नलिखित तथ्य द्रष्टव्य हैं: चंडेश्वर ने राजत्व है, राजा स्वतंत्र है तथा राज्य अविभाज्य है।[84] राजनीतिरत्नाकर में इसने पूर्व के एक ग्रंथ को उद्धृत करते हुए बतलाया है कि प्रजा विष्णु का रूप है।[85] उसने तीन तरह के राजाओं की चर्चा की है, जैसे सम्राट, सकर राजा और अकर राजा। उसकी यह विचारधारा नारदनीति पर आधारित है[86] किन्तु छपी हुई नारदस्मृति में इस तरह का उद्धरण नहीं मिलता। यद्यपि चंडेश्वर ने यह विचार व्यक्त किया है कि राज्याभिषेक समारोह राजा के लिए आवश्यक नहीं हैं, फिर भी उसने एक अध्याय में राज्याभिषेक का वर्णन किया है।[87] चंडेश्वर अन्य निबंधकारों की तरह वंशानुगत मंत्रियों के पक्ष में है। उसने लिखा है कि उसके दादा ठाकुर देवादित्य महासंधिविग्रहिक एवं महात्तक[88] थे। वीरेश्वर, जो देवादित्य का पुत्र था और जिसने दशकर्म पद्धति नामक पुस्तक की रचना की, शक्रसिंह के अधीन महासांधिविग्रहिक था।[89] उसके भाई गणेश्वर (देवादित्य के पुत्र) ने अपनी पुस्तक स्मृति–सोपान में लिखा है कि वह स्वयं एक मंत्री और महामत्तक था तथा उसने हरिसिंहदेव के अधीन महाराजाधिराज और महासामंताधिपति के पद को सुशोभित किया था। वीरेश्वर के पुत्र चंडेश्वर ने अपनी पुस्तक व्यवहाररत्नाकर में लिखा है कि

वह मुख्य न्यायाधीश एवं महासंधिविग्रहिक अथवा शान्ति एवं युद्धमंत्री के पदों पर काम कर चुका था। फिर विवादरत्नाकर में उसने अपने को एक चतुर न्यायधीश और महान मंत्री बतलाया है। गणेश्वर का पुत्र रामदत्त नरसिंह द्वितीय के अधीन महामहत्तक हुआ जो दिल्ली सुल्तान के अधीन एक स्थानीय कर्णाट शासक था।[90] स्थानीय शासन प्रणाली में इस काल में थोड़ा–बहुत परिवर्तन हुआ। गाँव में मुखिया अभी भी ग्रामपति कहलाता था। मनुस्मृति (5.114–121) में जिस प्रकार की प्रशासनिक इकाइयों तथा विभिन्न श्रेणियों के पदाधिकारियों के बीच पारस्परिक संबंधों का वर्णन हुआ है, ठीक उसी तरह की स्थिति मध्यकालीन मिथिला में भी कायम थी। अधिकारियों को वेतन के रूप में मुख्यतया जमीन दी जाती थी। देशस यानी दस गाँवों के प्रशासन से संबंधित अधिकारी को उतनी ही जमीन दी जाती थी जितनी एक हल से जोती जा सकती थी। विशंतिक, जिसकी देख रेख में बीस गाँव होते थे, को उतनी जमीन दी जाती थी जितनी चार हलों से बांधी जा सके। ''शतेश'' नामक पदाधिकारी को, जिसके अधिकार क्षेत्र में सौ गाँव होते थे, वेतन में एक गाँव दिया जाता था। उसी प्रकार सहस्राधिपति जिसके कार्य क्षेत्र में एक हजार गाँव पड़ते थे, को एक शहर दिया जाता था।[91] रिगंध तथा सर्वार्थचिंतक नामक दो पदाधिकारियों का उल्लेख भी मिलता है जो स्थानीय एवं केंद्रीय प्रशासन के बीच की कड़ी का काम करते थे। मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति के समय से[92] ही इन दोनों का उल्लेख मिलता है।

अगर निबंधों पर एक सरसरी नजर भी डाली जाय तो यह तथ्य बिल्कुल उभरकर सामने आ जायेगा कि मध्ययुगीन मिथिला में सामंतवादी व्यवस्था केंद्रीय एवं स्थानीय शासन के क्षेत्र में पूरी तरह छायी हुई थी। राजनीतिरत्नाकर में प्राचीन ग्रंथों के आधार पर विभिन्न श्रेणियों के पदाधिकारियों की चर्चा की है। विभिन्न निबंधों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुगीन मिथिला में सामंतों की शक्ति में वृद्धि हुई। महाभारत, और नारदनीति के श्लोकों पर व्याख्या करते हुए चंडेश्वर ने लिखा है कि साधारणतः राजाओं को चक्रवर्ती सम्राट् और महाराजा कहा जाता था। लेकिन वास्तव में सम्राट और राजा के संबंध में एक महत्वपूर्ण अंतर भी वह बतलाता है।[93] सम्राट् वह था जो अन्य सभी राजाओं से कर वसूलता था (सकले राजेभ्योयः करग्राही सः सम्राट्) । दूसरी ओर दो प्रकार के राजा हुआ करते थे – सकर जो कर तथा भेंट आदि दिया करते थे और अकर जो स्वेच्छापूर्वक कर अदा करते थे (स्वेच्छया करदोउकरः)। उसी प्रका अधीश्वर कहे जानेवाले शासक भी दो श्रेणियों में विभक्त थे। अकर अधीश्वर अपने पराक्रम के बल पर शासन करते थे तथा अपने इच्छानुसार दंड देते थे। दूसरे प्रकार के अधीश्वर अपने पराक्रम के बल पर शासन करते थे तथा अपने इच्छानुसार दंड देते थे। दूसरे प्रकार के अधीश्वर वे होते थे जो सम्राट की आज्ञा से कर तथा भेंट अदा करते थे तथा दंड दे सकते थे। सकर नामधारी शासक शायद राजा होते थे, जिनकी दो श्रेणियॉ होती थी।[94] एक अधिदंड और दूसरा अनधिकृत दंड। अधिकृत सकर अपनी दंड संहिता के अनुरूप दीवानी और फौजदारी मुकदमों का निबटारा

करते थे तथा दीवानी मामले में उनका निर्णय अंतिम समझा जाता था। दूसरी तरफ अनधिकृतदंड की श्रेणी में आनेवाले सकर दीवानी मुकदमों के संबंध में फैसला कर सकते थे, लेकिन फौजदारी मुकदमों के मामले में दंड के अधिकार से वंचित थे। यदि कोई अनाधिकृत राजा अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण कर किसी को दंड दे देते थे तो सम्राट उसे दो–तीन रोज तक दर्शन नहीं देकर अपनी नाराजगी प्रकट कर सकता था। उस तरह के प्रतिकूल आचरण वाल सकर राजा के साथ इसी तरह के व्यवहार का विधान था।

मिथिला के कर्णाट राजवंश के समय अधिकांश प्रशासनिक पद सामन्तों के हाथों में था। सुगतिसोपान से इस बात की जानकारी मिलती है कि गणेश्वर न केवल महासामंताधिपति था वरन उसने महाराधिराज की पदवी भी धारण की थी। जायसवाल का मत है कि संभवतः गणेश्वर के समकालीन शासक के शासन काल में पहलीबार या तो बड़े बुजुर्गों की सभा का श्रीगणेश हुआ या वह संस्था शक्ति–संपन्न हुई।[95] गणेश्वर संभवतः इस परिषद् का सदस्य था, लेकिन गणेश्वर ने इस तरह की सभा या परिषद् का उल्लेख नहीं किया है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि कामेश्वर राजवंश के राजा भवेश के शासन में उक्त परिषद् राजा के अधिकारों को नियंत्रित करने में अक्षम सिद्ध हो गयी। भवेश के शासनकाल के कुछ पूर्व मंत्री–परिषद् जैसी प्राचीन राजनीतिक संस्था का फिर से गठन किया गया। ओइनवार राजाओं के समय अगर सामंतो पर नही ंतो कम–से–कम वैसे पदाधिकारियों पर अवश्य नियंत्रण स्थापित किया गया, जो गाँवों के समूहों के अधिकारी थे तथा जिनके पद सामंतवादी ढाँचे में परिवर्तित हो गये थे। चंडेश्वर ने मनु के श्लोकों (7.121, 124) को उद्धृत करते हुए बतलाया है कि प्रत्येक नगर का सर्वार्थचिन्तक नामक अधिकारी ठीक उसी तरह का आतंक था जैसा राहु ग्रहों के लिए हुआ करता है।[96] वैसे अधिकारियों को राजा द्वारा निकाल दिया जाता था जो किसानों से बलपूर्वक पैसे ऐंठते थे।

निबंधकारों ने प्राचीनकाल से प्रचलित कर निर्धारण संबंधी नियमों के पालन आदि मामले में एक ही तरह के मत नहीं दिए हैं। एक तरफ पुराने नियमों के अनुरूप ही वाचस्पति ने चुंगी के रूप में 1/10 भाग तथा आयातित मालों पर 1/20 भाग वसूले जाने की अनुशंसा की है,[97] तो दूसरी ओर चंडेश्वर ने राजनीति रत्नाकर में आंतरिक तौर पर षष्ठांश (षड्भार) की चर्चा की है।[98] उसने इस बात पर विशेष बल दिया है कि राजा को उतना ही कर लगाना चाहिए जितना प्रजा की रक्षा के लिए आवश्यक है। किन्तु जहाँ पर सामंतवादी व्यवस्था का बहुत बोलवाला था वहाँ कर निर्धारण के संबंध में चंडेश्वर द्वारा वर्णित इस तरह की अनुशंसा पर शायद ही अमल किया गया हो।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन मिथिला के राजनीतिक एवं प्रशासनिक इतिहास की रचना में निबंधों के महत्व को नहीं घटाया जा सकता है। ओइनवार राजवंश के राजाओं के क्रमबद्ध राज्यारोहण के संबंध में एक ओर कन्दाहा

(शंक सं0 1357) एवं भगीरथपुर (सं0 सं0 394 अथवा 403) के अभिलेखों[99] तथा दूसरी ओर निबंधों में भवेश के बारे में एक–जैसी जानकारी दी गई है।[100] इन दोनों स्त्रोतों में यह बात नहीं कही गई है कि वर्धमान वल्वचयन परिवार का था। मिथिला के पंजियों एवं नेपाल के इतिहास में बहुत कुछ समानता है। अतः उत्तर बिहार के वृहत इतिहास की रचना के लिए न तो सिर्फ निबंधों और न पंजियों एवं अभिलेखों पर ही निर्भर किया जा सकता है। इन स्त्रोतों के समग्र एवं समन्वित अध्ययन से ही यह संभव हो सकता है।

संदर्भ

1. ऋग्वेद, 4,24,10
2. काठक संहिता, 3,39.
3. शतपथ ब्राह्मण, 5,5.5,16
4. वही 2,2,7,33
5. अष्टाध्यायी, 5,1,40
6. व0ध0 सू, 19, 23
7. आ0ध0 सू0 2,6,19
8. दीघनिकाय, 8,2,43
9. जातक, 6, पृ0 119
10. अर्थशास्त्र, 2,19
11. याज्ञ0, 2.240
12. कात्यायन0 705–706
13. याज्ञ0 2.168.
14. वाटर्स, 1, पृ0 178.
15. वही, 2, पृ0 83, 197
16. शब्दानुशासन, 5.3.81,
17. वही, 7.1.153,
18. अष्टाध्यायी 5.1.7
19. अर्थशास्त्र, 2.21
20. वही, 2.21
21. मनु0, 7.127
22. महाभाष्य, 5.1.47
23. वही, 4.4.50
24. कामसूत्र, 5.78–79.
25. याज्ञ0 2–263.
26. गौ0 ध0 सू0, 10.26

27. शुक्र0, 4.2.109,11
28. एपि0 ई0, 4.117–20
29. यशस्तिलक, उत्तरार्द्ध, पृ0 345,
30. शब्दानुशासन, 6.4.158
31. वही, 6.4,158,
32. वही, घोषल, हिस्ट्री अव द हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ0 – 263
33. एपि0 ई0, 3.226–67
34. विद्यापति कृत लिखनावली, (सं0 इन्द्रकान्त झा), पटना, 1969
35. बृहत्हिन्दीकोश (सं0 कालिका प्रसाद, राजबल्लभ सहाय एवं मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव), पृ0–528
36. लिखनावली, पत्र सं0–55, पृ0 42
37. वही, पत्र सं0–56, पृ0 44
38. वही पत्र सं0–58, पृ0–46
39. वही पत्र सं0–73, पृ0–55
40. वही, पत्र सं0–73, पृ0–53
41. वही, पत्र सं0–77, पृ0–57
42. वही, पत्र सं0–80, पृ0–58
43. शिवप्रसाद सिंह, कीर्त्तिलता और अवहट्टभाषा, पृ0–566
44. बृहत् हिन्दीकोश, पृ0–731।
45. बायोग्राफीऑफधर्मस्वामीन, भूमिका, पृ0 28।
46. वामन शिवराम अप्टे, संस्कृतहिन्दीकोश, पृ0 566
47. लिखनावली, पत्र सं0 75, पृ0 56
48. वही, पत्र सं0–70, पृ0–53
49. वही, पत्र सं0–77, पृ0–57
50. वही, पत्र सं0–58, पृ0–46
51. वाचस्पति मिश्र, विवाद–चित्नामणि (मं0 लक्ष्मी कान्त झा), पृ0 4।
52. वही, पृ0 –128,
53. बृहद् हिन्दी कोष, पृ0–628
54. अमरकोष (रामाश्रमी व्याख्या सहित), पृ0–374
55. लिखनावली, पत्र सं0–68, पृ0–52
56. सुगति–सोपान के श्लोक और 4, पृ0 17–18
57. आर0 मित्रा, नोटिसेजऑफसंस्कृत 6.134
58. सी0पी0एन0 सिन्हा, मिथिलाअंदरदीकर्णाटाज, पटना, 1979, पृ0 90.
59. दण्डविवेक, 1973, पृ0।
60. कृत्यरत्नाकर, प्रस्तावना, पृ0 6

61. राजनीतिरत्नाकर में उद्धृत भूमिका, पृ0 22
62. बिहार और ओड़िसा रिसर्चसोसाइटीकैटलाग, सं0 86, पृ0 88
63. रा0स0, भूमिका, पृ0 20.
64. वही, पृ0 1, श्लोक–2
65. विभागसागर, भूमिका का अंतिम श्लोक
66. वही, पृ0 192.
67. कलकत्ता संस्कृत कॉलेज हस्तलिखितपोथी सं0 6/79, पृ0 50
68. मित्र–मजुमदार, (सं0) विद्यापति, पृ01)
69. विभासागर, पृ0 4 (राज्ञो भवेशाद्वरिसिंह आसीत्)
70. शैवसर्वस्वसार, पृ0 194, श्लोक 5
71. मित्र–मजुमदार, विद्यापति, पृ0 44
72. हिस्ट्रीऑफबंगाल (सं0जे0एन0 सरकार), भाग–2 पु0 127
73. शैल, श्लोक 8–12.
74. कियान्निवन्धमालोक्यं श्री विद्यापति सूरिण गंड्गावक्यालली देत्याः प्रमाणैविमलीकृता।
75. बि0ओ0आर0एस0 कैट, पृ0 559
76. काणे, हिस्ट्रीऑफधर्मशास्त्र, भाग 1, पृ0 559
77. इंडियनऐंटिक्वेरी (1885), पृ0 192–93
78. समस्तेन्यादिमहाराजधिराज मिथिला मराडल श्री भद्राभद्रदेव–1.0 पृ0 556, सं0 1730
79. काणे, हिस्ट्रीऑफधर्मशास्त्र, पृ0 603 पा0टी0 985
80. वही, पृ0 601–2
81. वही, पृ0 405 पा0टी0 987,
82. वही, पृ0 358 पा0टी0 969
83. वही, पृ0 537, 605
84. रा0र0, पृ0 2, 68
85. वही, पृ0 74 : इतिसर्व प्रजा विष्णु।
86. वही, पृ0. 3
87. वही, पृ0 73–77
88. वही, भूमिका, पृ0 14, पा0टी,3.
89. रा0र0, पृ0 77.
90. काणे, हिस्टीआफधर्मशास्त्र, 1, पृ0 350–51
91. रा0र0, पृ0 60–61
92. वही, पृ0 61
93. वही, पृ0 425

94. वही, पृ0 5
95. वही, भूमिका, पृ0 26
96. रा0 र0, पृ0 31
97. विवादचिन्तामणि, 122,
98. राजनीतिरत्नाकर, पृ0 55
99. राधाकृष्ण चौधरी, सेलेक्टइंसक्रिप्सन्स ऑफ बिहार, पृ0 125–27
100. काणे, हिस्ट्रीऑफधर्मशास्त्र